

## दलित आत्मकथाओं में दलितों की पीड़ा

डॉ० नरेश कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), एनीबिसेण्ट गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, सलारपुर, कोटकासिम, तिजारा, अलवर, राजस्थान, भारत।

### प्रस्तावना

वर्ण-व्यवस्था और जाति भेद पर लिखने वाले दलित लेखकों की आत्मकथाओं का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह रहा है कि जिस तरह कहानी, उपन्यास या कविताओं को कवि कल्पनाओं द्वारा उस पर व्यक्त सच्चाई पर परदा डाला जा सकता है वैसा इन आत्मकथाओं के साथ नहीं किया जा सकता है। ये आत्मकथाएँ तो ऐसे जीवंत इस्पाती दस्तावेज हैं जिसमें पूरी ईमानदारी से घटित घटनाएँ व्यक्त की जाती हैं। अब समाज के सामने मुश्किल यह आ गई है कि इन दलित आत्मकथाओं में व्यक्त सच्चाईयों को न तो झूठलाया जा सकता है और न ही इसे समाजगत विवशताओं के कारण स्वीकार करने में आसानी हो रही है। इन आत्मकथाओं ने छूआछूत वर्ण-व्यवस्था और जाति के वैचारिक आयाम पर प्रश्न चिह्न लगाकर इसकी दीवार-भित्ति को भड़भड़ाकर गिरा दिया है। दलित आत्मकथाओं में स्थापित आलोचना मानदण्डों और स्थापित मानव आदर्श मूल्यांकन के एक नये समाजशास्त्रीय मूल्यांकन के लिए ललकार का आह्वान करती है।

### वैचारिक ढाँचे

अब एक सवाल और उठता है कि क्या दलित मुक्ति आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले समाज-सुधारकों, विचारकों या लेखकों ने जो सामाजिक समानता और मुक्ति की कामना की थी या जिस सामाजिक न्याय के लिए उन्होंने संघर्ष किया था और यह आन्दोलन खड़ा किया था। क्या दलित वर्ग आज भी इसी आन्दोलन की विचारधारा या दर्शन और मुक्ति की मांग पर अटल और अडिग है या फिर से उन सामाजिक राजनैतिक सत्ताधारियों से समझौता कर आत्मतुष्ट होकर बैठ जाते हैं। उदाहरण के रूप में हम एक छोटी सी घटना की चर्चा कर सकते हैं। कर्नाटक में जब देवराज उर्स की सरकार थी उस समय गाँव में छोटे-छोटे मंदिर प्रत्येक दलित बस्ती के सामने बने हुए थे। पूछने पर पता चला कि वहाँ के लोग मंदिर प्रवेश के लिए प्रयासरत थे तो सरकार ने कहा कि क्यों झगड़ा करते हो हम आपके लिए अलग से मंदिर बनवा देंगे। इस तरह सरकार ने अलग से मंदिर बनवा दिये लेकिन इससे क्या बदलाव आया ? कौन सी समस्या हल हुई क्या जिस सामाजिक समानता के लिए लड़ाई जारी है वह पूर्ण हो पाई ? ऐसे तमाम सवाल वर्तमान दलित वर्ग के सामने खड़े हैं। अधिकार मांगने से नहीं छीनने से मिलते हैं। जागरूकता की यह चेतना दावानल बनकर समग्र दलित चेतना भोगी हुई पीड़ा, यातना और पाखण्डी समाज की विभेदकारी नीतियों को आत्मकथा के जरिये सामने ला रही हैं। इनका भोगा हुआ यथार्थ, व्यक्ति, समाज और देश की खोखली परंपराओं के विरुद्ध कितने तीखे प्रहार करता है। “दलित आत्मकथाओं के सरोकारों का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन” द्वारा इसका स्पष्ट खुलासा मिल सकेगा। साथ ही वंचितों को उस सामर्थ्य का अहसास भी समाज के सामने स्पष्ट होकर आयेगा यह निश्चय ही औद्योगिकरण के युग में हमारे राष्ट्र को अधिकाधिक मानवीय घोषित कर सकेगा।

### साहित्य का अवलोकन

उपेक्षा, असमानता परक जीवन और यातनामय सामाजिक दशाओं को दलित आत्मकथा के माध्यम से उकेरा गया है। इन रचनाओं में ऐसा

यातनामयी दर्द छुपा है जिसकी पृष्ठभूमि की पीड़ा आगामी भविष्य की क्रांति की सूत्रधार बन जाती है। अपने-अपने पिंजरे (मोहनदास नैमिशराय) जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि) दोहरा अभिशाप (कौशल्या बैसंत्री) मेरा सफर मेरी मंजिल (डी.आर.जाटव) झौपड़ी से राजभवन (माता प्रसाद) तिरस्कृत (सूरजपाल चौहान) तिरस्कार (कैलाशनाथ) मैं भंगी हूँ (डॉ. भगवानदास) मेरा गुनाह (श्रवण कुमार) मेरा बचपन मेरे कंधों पर (श्यामराज सिंह बेचैन) मुर्दहिया (डॉ. तुलसीराम) शिकंजे का दर्द (सुशीला टांकभौरें) आदि ऐसी दलित आत्मकथाएँ हैं जिसमें दलित समाज के यथार्थ और सामाजिक सरोकारों को शिद्दत से उकेरा गया है। उक्त हिन्दी दलित- आत्मकथाओं में विचलित जीवन की परतें साफ तौर पर देखी जा सकती हैं।

भारतीय सामाजिक वर्ण-व्यवस्था विशेषकर हिन्दू धर्म में कर्मप्रधान व्यवस्था जब जन्ममूलक होकर जातियों और वर्गों के परम्परागत व नकारात्मक सामाजिक रूप में ढली तो दलित कही जाने वाली जातियों ने स्वयं को अलग-थलग, कटा हुआ और उपेक्षित पाया। उनके साथ निरन्तर पशुवत आचरण होता रहा। वर्ण-व्यवस्था तथाकथित सर्वर्ण ठेकेदारों ने समाज में दलितों के विरुद्ध सामाजिक भय भर्त्सना और हेयता की स्थितियाँ उपस्थित की। कई बार धर्मग्रन्थों के माध्यम से तो कई बार अनेक देवी-देवताओं और दैवीय प्रकोपों का भय दिखाकर समाज में दलितों को अछूत और मनहूस जैसा समझा जाने लगा। आज आधुनिक काल में भी दलित युगीन दासता से मुक्त नहीं हो पाये हैं। उनके ऊपर अनेक समाजशास्त्रीय और साहित्यिक विवेचन, विश्लेषण और शोध हुए हैं किन्तु उनकी दशा में मौलिक रूप से कोई बदलाव नहीं आया है।

महाराष्ट्र जैसे राज्यों में दलितों ने सामाजिक अन्याय का सबसे पहले प्रतिकार किया। अछूत (दया पंवार) तराल-अंतराल (शंकरराव खरात) अक्करमासी (शरण कुमार लिंबाले) उठाईगीर (लक्ष्मण गायकवाड़) उच्चका (लक्ष्मण गायकवाड़) पराया (लक्ष्मण माने) नरक सफाई (अरुण ठाकुर, मुहम्मद खडसे) छोरा कोल्हारी का (किशोर शांता बाई काले) डेरा-डंगर (दादा साहब मोरे) धूल का पंखी यादों के पंख (एन.एम. निगमडे) आदि आत्मकथाएँ समाज की ऊँच-नीच सामाजिक अन्याय और असमानता का जीवंत दस्तावेज जान पड़ती हैं। इन दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता रही है कि इनमें लेखक अपने बहाने अपनी जाति व समाज की भयावह स्थिति, प्रस्थापितों और सर्वर्णों की घोषणा वृत्ति का जातिगत संस्कृति, संस्कार, अंधश्रद्धा, खान-पान आदि का बड़ा ही तीखा यथार्थ चित्रण करते हैं। ये आत्मकथाएँ समाज की सबसे निचली श्रेणी के दुःखों को शिक्षित समाज तक पहुँचाने में सफल हो पायी हैं।

पारम्परिक आत्मकथाओं में व्यक्ति अपने जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक की प्रमुख घटनाओं, अनुभवों और सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों को उभारता चलता है। लेकिन दलित आत्मकथाओं में लेखक प्रायः युवावस्था में ही सामाजिक अन्याय के विरोध को प्रस्तुत कर रहे हैं। दलित समाज के लिए देवतुल्य व्यक्ति बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर द्वारा लिखित ‘मी कसा झालो’ (मैं कैसे बना) जैसी आत्मकथा भारतीय समाज की न्यूनताओं, असमानताओं, कृतकों और अन्याय को समाजशास्त्रीय पहलुओं में प्रस्तुत करती है। दया पंवार कृत बलूत

(अछूत) भी ऐसी ही आत्मकथा है जिसमें भारतीय समाज के सरोकारों और अन्यायगत वर्जनाओं को दर्शाया गया है।

दलित आत्मकथाएँ हौंसले और आशा का संचार करने वाली आत्मकथाएँ हैं। इनमें जहाँ समाजशास्त्रियों को सामाजिक कलेवर मिला है वहीं साहित्यकारों को भी साहित्यिक संदर्भ, उल्लेख और संज्ञान प्राप्त हुए हैं। दलित आत्मकथाओं का एक समाजशास्त्रीय पहलू भी है और इसे भली प्रकार से समझा जाना विश्लेषित किया जाना आवश्यक है। ऐसे क्या कारण हैं कि दलित वर्ग आजादी के इतने वर्षों के बाद भी अविकास और असम्मान की दशाओं का सामना कर रहा है। इसे समाजशास्त्रीय तरीके से समझा जाना आवश्यक है और दलित आत्मकथाओं की सत्यगत सच्चाई, इसका मार्ग प्रशस्त दलित आत्मकथाओं का सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर विवेचन किया जाना नितान्त अपेक्षित है, क्योंकि यही ऐसे दो मूल मोर्चे हैं, जहाँ दलितों को अन्य वर्गों के मुकाबले अधिक संघर्ष करना पड़ता है। वास्तव में दलित आत्मकथाएँ दलित जीवन की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं के साथ-साथ दलित समाज की तमाम कमजोरियों और उनसे निजात पाने के तौर-तरीकों का भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रस्तुतिकरण करती हैं। अतः इन आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विवेचन अपेक्षित है।

### संदर्भ

1. हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य डा. कमलेशसिंह नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1989।
2. दलित विमर्श की भूमिका कंवल भारती इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004।
3. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र शरणकुमार लिंबाले वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000।
4. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र ओमप्रकाश वाल्मिकि राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001।
5. दलित ब्राह्मण शरणकुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004।
6. साहित्य और दलित चेतना महीपसिंह/चन्द्रकान्त बांदिवडेकर अभिव्यंजना प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982।
7. दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन सुभाषचन्द्र इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006।
8. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तनश्री निवास एम.एन. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005।
9. चिंतन की परंपरा और दलित साहित्यशयौराजसिंह बैचैन/देवेन्द्र चौबे नवलेखन प्रकाशन, दिल्ली, 2001।
10. दलित क्रांति का साहित्य डा. शयोरज बैचैन संगीता प्रकाशन शाहदरा, दिल्ली, 1998।